प्रकाशितग्रंथसंख्या—१३५

॥ श्रीश्रीगौरहरिर्जयति ॥

शुक्लयजुर्वेदीय-वाजसनेयसंहितोपनिषत्

अथवा—

❀ ईशोपनिषत् ❀

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणविरचित-
भाष्यसहिता

बाबाकृष्णदासकृतानुवादयुता

च

प्रकाशक—
कृष्णदासबाबा
कुसुमसरोवर,
राधाकुण्ड
(मथुरा)

सम्वत् २०२२
फाल्गुनी शुक्ला द्वितीया
श्रीमद्राधारमणचरणदासदेव (वड़े बाबाजी)
महाराज की तिरोधान तिथि

मुद्रक-गौरहरिप्रेस, कुसुमसरोवर, राधाकुण्ड, [मथुरा]

::०:: श्रीश्रीगौरहरिर्जयति ::०::

शुक्लयजुर्व्वेदीयवाजसनेयसंहितोप-
निषदित्यपरनाम्नी

ईशोपनिषत्

।।ॐ।। पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।ॐ।।
।।ॐ।। शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।ॐ।।

ईशावास्यमिदं सर्व्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।१।।

श्रीमद्बलदेवभाष्यम्

वेदास्तथा स्मृतिगिरो यमचिन्त्यशक्ति
सृष्टिस्थितिप्रलयकारणमामनन्ति ।
तं श्यामसुन्दरमविक्रियमात्ममूर्त्ति
सर्व्वेश्वरं प्रणतिमात्रवशं भजामः ।।

वेदेषु खलु कर्म्मणो निखिलपुमर्थहेतुत्वं विष्णोस्तु कर्म्माङ्गत्वं स्वर्गादेः कर्म्मफलस्य नित्यत्वं जीवस्य प्रकृतेश्च स्वतः कर्त्तृत्वं परिच्छिन्नस्य प्रतिविम्बितस्य भ्रान्तस्य वा ब्रह्मण एव जीवत्वं चिन्मात्र-ब्रह्मात्मकत्वधीमात्रादेवास्य जीवस्य संसृतिविनिवृत्तिरित्यापाततो-

ऽर्था दुर्म्मतिभिः प्रतीयन्ते । तानिमान् पूर्व्वपक्षान् विधाय परस्य विष्णोरिह स्वातन्त्र्यसर्व्वकर्त्तृत्वसार्व्वज्ञ्यपुमर्थत्वादिधर्म्मकत्वज्ञान-सुखस्वरूपत्वं निरूप्यते। तथाहि ईश्वरजीवप्रकृतिकालकर्म्माख्यानि पञ्च तत्त्वानि श्रूयन्ते । तेषु विभुचैतन्यमीश्वरोऽणुचैतन्यन्तु जीवः । नित्यज्ञानादिगुणकत्वमस्मदर्थत्वञ्चोभयत्र । ज्ञानस्यापि ज्ञातृत्वं प्रकाशस्य रवेः प्रकाशकत्ववदविरुद्धम् । तत्रेश्वरः स्वरूप-शक्तिमान् प्रकृत्याद्यनुप्रवेशनियमनाभ्यां जगद्विदधन् क्षेत्रज्ञभोगापवर्गौ वितनोति । एकोऽपि वहुभावेनाभिन्नोऽपि गुणगुणिभावेन देहदेहिभावेन विद्वत्प्रतीतेर्विषयोऽव्यक्तोऽपि भक्तिव्यङ्ग्य एकरसः प्रयच्छति चित्सुखं स्वरूपम् । जीवास्त्वनेकावस्था वहवः । परेशवैमुख्यात् तेषां वन्धस्तत्साम्मुख्यात् तु तत्स्वरूपतद्गुणावरणरूपद्विविधवन्धविनिवृत्तिस्तत्स्वरूपादिसाक्षात्कृतिः । प्रकृतिः सत्त्वादिगुणसाम्यावस्था तमोमायादिशब्दवाच्या तदीक्षणावाप्तसामर्थ्या विचित्रजगज्जननी । कालस्तु भूतभविष्यद्वर्त्तमानयुगपच्चिरक्षिप्रादिव्यवहारहेतुः क्षणादि-परार्द्धान्तचक्रवत्परिवर्त्तमानः प्रलयसर्गनिमित्तभूतो द्रव्यविशेषः । ईश्वरादयश्चत्वारोऽर्था नित्याः । जीवादयस्तु तद्वश्याश्च । कर्म्म तु जड़मदृष्टादिशव्दव्यपदेश्यमनादि विनाशि च भवति । चतुर्णामेषां ब्रह्मशक्तित्वादेकं शक्तिमद्ब्रह्मेत्यद्वैतवाक्येऽपि सङ्गतिरित्यादीनर्थान् निरूपयितुं स्वयमाचार्य्यस्वरूपा श्रुतिराह—ईशेत्यादि । ईशा वास्य-मित्यादीनां मन्त्राणामात्मयाथात्म्यप्रकाशकत्वेन विरोधादेव कर्म्म-स्वविनियोगः किन्तूपासनायामविरोधात् । उपासना तु जीवपरयोः सम्वन्धविशेषसाधनं भजनमेव । सम्बन्धो हि जीवे परसाम्मुख्यम् । अतः संक्षेपतो व्याख्यास्यामः । ईशा वास्येति - तिस्रोऽनुष्टुभः । दध्यङ्ङाथर्व्वणऋषिः स्वं शिष्यं पुत्रञ्च निष्कामधर्म्मनिर्म्मलचित्तं सत्प्रसङ्गलुब्धं श्रद्धालुं शान्त्यादिमन्तमधिकारिणमुपसन्नमाह—ईशा वास्यमित्यादि । ईश ऐश्वर्य्ये क्विवन्तः ईष्टे इति ईट् सर्व्वस्ये-

शिता परमेश्वरः । स हि सर्व्वजन्तूनामात्मत्वात् सर्व्वमीष्टे । तेनात्मना ईशा परमेश्वरेणेदं सर्व्वं प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धं विश्वं वास्यं "वस आच्छादने" "ऋहलोर्ण्यदि"ति ण्यत्प्रत्ययः, णित्वात् स्वरितः आच्छादनीयमित्यर्थः । सर्व्वं तेन व्याप्तमिति शेषः । "स एवाधस्तात् स एवोपरिष्टात् अन्तर्बहिश्च तत् सर्व्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" इति श्रुतेः । यद्वा इदं सर्व्वमीशा परब्रह्मणा वास्यं "वस निवासे" इत्यस्य रूपं वासितम् उत्पादितं स्थापितं नियमितञ्च । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यमयन्त्येष त आत्मान्तर्य्याम्यमृत" इत्यादिश्रुतेः । न केवलं प्रत्यक्षगम्यमीशा वास्यमपि तु सावरणं ब्रह्माण्डमित्याह–यदिति । यत् किञ्चित् श्रुतिप्रमाणसिद्धं स्थापितं जगत्यां जगत् स्थावरजङ्गमात्मकं शेषं विश्वमीशेनोत्पादितं नियमितञ्चेत्यर्थः । अतः कारणात् तेनेशा त्यक्तेन विसृष्टेन स्वादृष्टानुसारिणा विषयेण भुञ्जीथाः भोगाननुभवेः । इतोऽधिकं मा गृधः "गृधु अभिकाङ्क्षायां" मा काङ्क्षीः । इतो ममाधिकं भवत्विति बुद्धिं त्यजेत्यर्थः । परमात्माधीनत्वेन त्वदिच्छाया व्याहतत्वादिति भावः । एवं सत् धनं कस्य स्वित् स्विदिति निपातो वितर्के न कस्यापीत्यर्थः । "स एष सर्व्वस्य वशी सर्व्वस्येशानः सर्व्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च" इत्यादिश्रुतेर्मुख्यदाता परमेश्वरो न स्वामिसम्बन्धालिङ्गितमन्यत् प्राणिजातमिति वैराग्येण भवितव्यमिति भावः ॥१॥

अनु०—वेद-समूह, स्मृतिवाक्य समूह अचिन्त्यशक्तिवाले जिनको सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय कारण रूप मानते हैं उन विकाररहित, आत्ममूर्त्ति वाले, सर्वेश्वर, प्रणति मात्र से वशीभूत, श्रीश्यामसुन्दर का हम भजन करते हैं ॥

कुछ पण्डिताभिमानी वेद के वास्तविक अर्थ को जानने में असमर्थ होकर आपाततः इस प्रकार अर्थ किया करते हैं कि—"वेदों में कर्म ही समस्त पुरुषार्थ का कारण है, श्रीविष्णु कर्म का

अंगरूप हैं, स्वर्गादिक कर्मफल नित्य है, जीव तथा प्रकृति स्वयं कर्त्ता है, ब्रह्म परिच्छिन्न अवस्था को प्राप्त होकर अथवा प्रतिविम्बित होकर किम्बा भ्रान्त होकर जीव हो जाता है । जीव को "मैं चिन्मात्र ब्रह्म हूँ" इस प्रकार ज्ञान हो जाने पर उसका संसार-नाश हो जाता है, जिस अवस्था को मोक्ष कहते हैं" इत्यादि । उन मतों का पूर्वपक्ष करते हुए "परम पुरुष विष्णु ही स्वतन्त्र, सर्वकर्त्ता, सर्वज्ञ, मुक्तिदाता, विज्ञान स्वरूप हैं" ऐसा निरूपण किया जावेगा । ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल तथा कर्म ये पाँच प्रकार तत्व शास्त्र में सुनने आते हैं । उनमें से विभु-चैतन्य ईश्वर तथा अणु चैतन्य जीव हैं । दोनों नित्यगुणादिक गुणविशिष्ट एवं अस्मद्-शब्द वाच्य हैं । प्रकाशवस्तु के अपने प्रकाश की तरह ज्ञान के ज्ञातृत्व में कोई विरोध नहीं है । दोनों में से ईश्वर स्वतन्त्र तथा स्वरूपगत शक्तिविशिष्ट हैं । वे प्रकृत्यादि तत्त्व में अणुरूप से प्रवेश एवं उनका नियमन करते हैं और जगत् की सृष्टि भी । वे जीव के भोग एवं अपवर्ग के दाता भी हैं । आप एक (अद्वयतत्व) होकर भी विभिन्न भाव से तथा अभिन्न होकर भी गुण-गुणी एवं देह-देही भाव से ज्ञानियों के प्रतीति-विषय होते हैं । वे व्यापक होकर भी भक्तिनेत्रों से दर्शनीय हैं, पुनः अखण्ड एकरस होकर भी स्वरूपभूत चित्सुख को अर्थात् ज्ञानानन्द को प्राप्त करते हैं ।

जीवात्मा बहु एवं नाना-अवस्था युक्त है । ईश्वर वैमुख्यता के कारण जीव का बन्धन एवं साम्मुख्यता से स्वरूप-आवरणकारी व गुणों का आवरणकारक दोनों प्रकार बन्धन के नाश हो जाने पर स्वरूपसाक्षात्कार होता है । सत्त्व-रजः तथा तमोगुण की समान अवस्था प्रकृति है । जो कि तमो, मायादि शब्द के द्वारा कही जाती है । वह ईश्वर के ईक्षण से सामर्थ्यवती होकर विचित्र रूप से जगत् की सृष्टि करती है । भूत, भविष्यत् , वर्त्तमान, युगपत् , चिर, क्षिप्र

आदि व्यवहार के कारण स्वरूप तथा क्षण से परार्द्ध पर्य्यन्त-उपाधि से युक्त, चक्र की भाँति परिवर्त्तनशील, प्रलय-सृष्टि के निमित्त रूप, जड़द्रव्य विशेष काल है। ईश्वर, जीव, प्रकृति एवं काल ये चारि पदार्थ नित्य हैं। जीव, प्रकृति तथा काल ईश्वराधीन हैं। जड़, अदृष्टादि शब्द वाच्य, अनादि एवं विनाशशील कर्म्म है। जीव, प्रकृति, काल एवं कर्म इन चारि तत्वों की ब्रह्मशक्ति के कारण यहाँ शक्तिमद् ब्रह्म ही विचारणीय है। अद्वैतवाक्य में भी इनकी संगति है, इत्यादि अर्थों का निरूपणार्थ स्वयं आचार्य्य-स्वरूपा श्रुति ईशावास्य इत्यादि मन्त्रों से उपदेश करती है कि—

"इशा वास्यं" इत्यादि मन्त्रों का आत्मयाथात्म्य-प्रकाशक के कारण कर्म्म से विरोध है अतः कर्म्मों में उनका विनियोग नहीं होना है परन्तु-अविरोध के कारण उपासना में विनियोग अवश्य होना चाहिये। जीव एवं परमेश्वर के सम्बन्धविशेष-साधन के लिये जो भजन किया जाता है वह उपासना है। जीव में परमेश्वर का साम्मुख्य ही सम्बन्ध है। अतः संक्षेप से हम श्रुति कथित उन मन्त्रों की व्याख्या करते हैं। ईशा वास्य इत्यादि यह मन्त्रत्रय अनुष्टुभ् छन्दात्मक है। दध्यङ्ङाथर्व्वण ऋषि निष्कामधर्म्म से निर्म्मलचित्त-वाले, सत्प्रसंग में लुब्ध, श्रद्धालु, शान्त्यादि गुणवान्, अधिकारी स्वरूप अपने शिष्य तथा पुत्र को प्राप्त कर ईशावास्य इत्यादि मन्त्रों का उपदेश करने लगे। ईश शब्द ऐश्वर्य्य में प्रयोजित होता है। परमेश्वर सबके ईशितार हैं। वे समस्त जन्तुओं के आत्म-रूप के कारण व्यापक हैं। आत्मारूप उन परमेश्वर के द्वारा प्रत्यक्ष-प्रमाण सिद्ध यह समस्त अथवा विश्व आच्छादित है। वस धातु आच्छादन अर्थ में प्रयोजित होता है। "ऋहलोर्ण्यत्" इस सूत्र से ण्यत् प्रत्यय है अतः स्वरित है। यह समस्त उनसे व्याप्त ऐसा निर्गलितार्थ है। "वह अधोभाग में हैं, वह उपरिभाग में हैं, भीतर-बाहर समस्त वे

नारायण व्यापकरूप में स्थित हैं" इस प्रकार श्रुतिवाक्य है। अथवा यह समस्त परब्रह्म के द्वारा उत्पादित, स्थापित एवं नियमित है। "जिस से यह समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, जिसकी स्थिति से स्थित होकर जीवित रहते हैं, जो आत्मा सबको नियमित करती हैं वह अन्तर्य्यामी अमृतस्वरूप है" इस प्रकार श्रुतिवाक्य है। उन परमेश्वर के द्वारा प्रत्यक्ष-गम्य यह विश्व केवल व्याप्त है ऐसा नहीं अपितु सावरण प्राप्त ब्रह्माण्ड भी उनसे व्याप्त है इस अर्थ को लेकर श्रुति कहती है—यद् इत्यादि-श्रुतिप्रमाणसिद्ध इस जगत् में स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त वस्तु ईश्वर के द्वारा उत्पादित, स्थापित तथा नियमित है। इसी कारण से उन ईश्वर के द्वारा परित्यक्त अपने अदृष्टानुसारि विषय का भोग करो अर्थात् ईश्वरार्पित उन भोगों का अनुभव करो। उससे अधिक अभिलाषा मत करो। अर्थात् मुझको इससे अधिक कुछ प्राप्त हो इस प्रकार बुद्धि का त्याग करो।

भावार्थ—समस्त परमेश्वर की इच्छाधीन है। वह इच्छा अबाधित है, तुम्हारी इच्छा बाधित है। इससे यह सिद्ध होता है कि समस्त धन परमेश्वर का है, अन्य किसी का नहीं है। "वह परमेश्वर सब के वशी, सबके ईशान हैं, जो भी कुछ तथ्य है सबके वे प्रशास्ता हैं।" इस प्रकार श्रुतिवाक्यों से परमेश्वर ही सबके मुख्यदाता हैं, स्वाम्यादि सम्बन्ध से आलिङ्गित प्राणिजात-अन्य कोई नहीं है ॥१॥

कुर्व्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे ॥२॥

इदानीं चित्तशुद्धयर्थं विहितमवश्यमनुष्ठेयमित्याह—कुर्व्वन्नेवेति। कर्म्माण्यग्निहोत्रादीनि निष्कामाणि कुर्व्वन्नेवेह लोके शतं

शतसंख्यकाः समाः सम्बसरान् शतवर्षपर्य्यन्त जिजीविषेत् जीवितुमिच्छेत् । एवं त्वयि जिजीविषति कर्म्म कुर्व्वति च नरे इतः एतस्मात् अग्निहोत्रादि कर्म्माणि कुर्व्वतः प्रकारादन्यथा प्रकारान्तरेण मुक्तिर्नास्ति यद्वा तल्लिप्तत्वं नास्तीति भावः । तादृक् कर्म्म तु न लिप्यते ॥२॥

अनु०—अनन्तर चित्तशुद्धि के लिये विहित-कर्म्म का अवश्य अनुष्ठान होना चाहिये इस भाव को लेकर श्रुति कहती है-"कुर्व्वन्नेवेह" इत्यादि । इस प्रकार अग्निहोत्रादि कर्म्मों को निष्काम पूर्वक करते हुए इस लोक में आप शतवर्ष पर्य्यन्त जीवनलाभ करने की इच्छा करें । इस प्रकार शतवर्ष जीवनलाभेच्छा रखकर अग्नि होत्रादि कर्म्म करने वाले तुम्हारे लिये मुक्ति प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय नहीं होगा, उससे ही तुम्हारी मुक्ति होगी । अथवा उन कर्मों में तुमको लिप्त नहीं होना होगा यह भावार्थ है ॥२॥

असूर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

अथ काम्यपरान् निन्दति—असूर्य्या इति । ये के च ये केचित् जनाः आत्मानं घ्नन्ति संसारैः सम्बन्धयन्तीत्यात्महनः ते प्रेत्य मृत्वा तान् लोकान् अभिगच्छन्ति । लोकाः कथम्भूता इत्यपेक्षायामाह—असूर्य्या नाम इत्यादि । असूर्य्या असुरप्राप्याः नाम ते लोका अन्धेन गाढ़ेन तमसा आवृताः संवृता इत्यर्थः । अविद्वांसः काम्यपराः आत्महन्तारो जनाः मृत्वा दुरन्ततमसावृतमसुरलोकं गच्छन्तीति भावः ॥३॥

अनु०—अब श्रुति असूया इति मन्त्र से काम्यकर्म्मपरायण व्यक्तियों की निन्दा करती हैं कि-जो परमात्म सम्बन्ध का स्थापन न कर जगत् का भोग करना चाहते हैं वे सब आत्मघाती हैं । जो कि शरीर

त्याग कर आसुरीभाव प्राप्त अर्थात् भयानक अन्धकार से आवृत लोक समूह को प्राप्त होते हैं ॥३॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्व्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

ब्रह्मविज्ञानमेव मुक्तिसाधनमित्युक्तम्। तद्ब्रह्म किंविधमित्यत आह—अनेजदिति। त्रिष्टुप्छन्दस्केयमृक् । अनेजदकम्पनमचलदभयमिति वा एकं समाधिकरहितम्, यद्वा सर्व्वभूतेषु विज्ञानघनरूपेणैकम् ; मनसो जवीयः वेगवत्तरं तदप्राप्यम् । देवा इन्द्रियाणि ब्रह्माद्या एनत् एतत् ब्रह्म न आप्नुवन् न गोचरीकुर्व्वन्ति तत्र हेतुः पूर्व्वमर्षदित्यादि । पूर्व्वमषत् पूर्व्वमेव गतं जवनान्मनसोऽपि । किञ्च लोकविलक्षणं लक्षणान्तरमाह—तिष्ठदिति । तिष्ठतीति तिष्ठत् स्वस्थाने स्थितमपि सर्व्वगतत्वात् धावतः द्रुतं गच्छतः अन्यान् मनआदीन् अत्येति अतिक्रम्य तिष्ठति अचिन्त्यशक्तित्वादित्यर्थः । किञ्च मातरिश्वा वायुः क्रियात्मकः अपः कर्म्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणाणि दधाति धारयति, यद्वा मातरिश्वा यस्मिन् सर्व्वकर्म्माणि स्थापयतीति ॥४॥

अनु०—ब्रह्मविज्ञान ही मुक्तिसाधन है ऐसा कहा गया है । वह ब्रह्म किस प्रकार है उसे "अनेजदेकं" इस मन्त्र के द्वारा श्रुति कहती है-वह अचल स्वरूप है अर्थात् उसका कभी कम्पन नहीं है, किम्वा वह अभय रूप है। न उससे कोई अधिक है, न समान है । अथवा समस्त भूतों में विज्ञानघन स्वरूप में स्थिति के कारण वह सदा एक रूप है। पुनः वह मन से भी वेगवान है अर्थात् मन उसको प्राप्त नहीं कर सकता है। इन्द्रियगण व उनके अधिष्ठाता ब्रह्मादि देवतागण उस ब्रह्म को गोचरीभूत नहीं कर पाते हैं क्यों कि मनसे वेगवान् होने के कारण वह पहले से ही सबका अतिक्रमण कर लेता

है। अब उसका लोकविलक्षण लक्षण यह है कि—वह अपने स्थान में रहता हुआ भो सर्वगत के कारण द्रुतता से चल कर मन आदि सबका अतिक्रमण कर लेता है। वह उस की अचिन्त्यशक्ति का परिचायक है। और भी क्रियात्मक वायु उस के अधिष्ठान वश प्राणियों की चेष्टाओं को धारण करती है। अथवा वायु जिसमें समस्त कर्म्मों को स्थापित करती है ऐसा अर्थ है ॥४॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्व्वस्य तदु सर्व्वस्यास्य वाह्यतः ॥५॥

रहस्यं सकृदुक्तं न चित्तमारोहतीति पूर्व्वमन्त्रोक्तमपि पुनर्वदति-तदिति अनुष्टुप्। तत् प्रकृतमात्मतत्त्वं एजति चलति तदेव न एजति च स्वतो नैव चलति अचलमेव सत् मूढ़दृष्ट्या चलतीवेत्यर्थः। यद्वा नैजति नैजयति सदाचारान् "परित्राणाय साधूनाम्"इत्युक्तेः। किञ्च तद्दूरे दूरदेशेऽस्ति वर्षकोटिशतैरपि अविदुषामप्राप्यत्वात् दूरे इवेत्यर्थः। तद्वन्तिके तदु अन्तिके विदुषां हृद्यवभासमानत्वादन्तिक इवात्यन्तं समीप इव। न केवलं दूरेऽन्तिके अस्ति किन्तु अस्य सर्व्वस्य नामरूपक्रियात्मकस्य जगतोऽन्तरभ्यन्तरे तदेवास्ति। अस्य सर्व्वस्य वाह्यतो वहिरपि तदु तदेवास्ति आकाशवद्व्यापकत्वात् ॥५॥

अनु०—पहले पूर्वमन्त्र में जो रहस्य कहा गया है वह चित्त में आरोहण नहीं कर सका अतः पुन "तदेजति" इस मन्त्र के द्वारा श्रुति समझाती है। वह आत्मतत्त्व सचल एवं अचल है। अचल वह मूढ़दृष्टि से चलायमान की भाँति प्रतीत होता है। अथवा—वह साधुओं के हृदय में अचलरूप से विराजमान रहता है, जो उन का अतिक्रमण नहीं करता है। "साधुओं के परित्राण के लिये" ऐसा गीता में कहा है। वह अत्यन्त दूरदेश में है अर्थात् शतकोटिवर्ष में भी अविदुषजनों को अप्राप्य है। पुनः वह निकट में भी है अर्थात्-

विदुषजनों के हृदय में निरन्तर अवभासमान रहता है। वह केवल दूर में अथवा निकट में है ऐसा नहीं अपि तु नाम-रूप-क्रियात्मक इस समस्त जगत् के अभ्यन्तर में मौजूद है । पुन: सर्वदा सब के वाहिर भी वह विराजमान रहता है । क्यों कि आकाश की भाँति वह व्यापक है ॥५॥

यस्तु सर्व्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्व्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

अथोपासनाप्रकारमाह—यस्त्विति । अनुष्टुप् । य: पुनरधिकारो सर्व्वाणि भूतानि अव्यक्तादिस्थावरान्तानि चेतनाचेतनानि आत्मन् आत्मनि एव अनुपश्यति ब्रह्मण्येव सर्व्वाणि भूतानि स्थितानीति जानाति आत्मानं ब्रह्म च सर्व्वभूतेषु अनुपश्यति ततस्तस्मात् दर्शनात् न विजुगुप्सते जुगुप्सां नाप्नोति मुक्तः भवतीत्यर्थ: ॥६॥

अनु०—अब "यस्तु सर्वाणि" इत्यादि मन्त्र से उपासना प्रकार कहता है। पुन: जो अधिकारी अव्यक्तादि स्थावरान्त, चेतनाचेतन समस्त भूतों को ब्रह्म में ही स्थित इस प्रकार जानता है तथा समस्त भूतों में ब्रह्म को देखता हैं, वह उस दर्शन से जुगुप्सा प्राप्त नहीं करता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ॥६॥

यस्मिन् सर्व्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत: ।
तत्र को मोह: क: शोकश्च एकत्वमनुपश्यत: ॥७॥

इममेवार्थं द्वितीयो मन्त्रो वदतीत्याह—यस्मिन्निति अनुष्टुप् । यस्मिन्नवस्थाविशेषे विजानत: सर्व्वाणि भूतानि आत्मनि सन्ति आत्मा च सर्व्वभूतेष्वस्तीति विशेषेण ज्ञानवत: पुरुषस्य "सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादिवाक्यार्थविचारेण सर्व्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्भवन्ति । तत्रावस्थाविशेष एकत्वमात्मैकत्वमनुपश्यतस्तस्य को मोह: क: शोकश्च मोहश्चाज्ञानतो भवतीति ॥७॥

अनु०—इसी अर्थको दूसरा मन्त्र बतलाता है—जब कि समस्त भूत आत्मा में स्थित हैं एवं आत्मा ही सर्वभूतों में अवस्थित है इस प्रकार विशेष रूप से जान लेता है उस अवस्था में उस व्यक्ति का "यह समस्त ब्रह्म हैं" इत्यादि वाक्यार्थविचार के द्वारा समस्त भूत ही आत्मा है इस प्रकार ज्ञान होता है । उस अवस्था-विशेष में अर्थात् जब कि आत्मा के साथ एकत्व देख लेता है तब उस का कोई मोह नहीं रहता है तथा मोह (अज्ञान) जनित शोक का अभाव हो जाता है ॥७॥

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्-शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

एवम्भूतात्मज्ञानिनः फलमाह—स इति । जगती योऽधिकारी पूर्व्वोक्तप्रकारेणात्मानं पश्यति स ईदृशमात्मानं पर्य्यगात् पर्य्यगाप्नोति । कीदृशम् ? शुक्रं शुद्धं विज्ञानानन्दस्वभावं, अकायं न विद्यते भोगार्थं कायः शरीरं यस्य तं, अव्रणं अच्छिद्रं पूर्णं, अस्नाविरं न विद्यन्ते स्नावाः शिरा यस्य सोऽस्नाविरस्तम्। अत्रैव हेतुगर्भविशेषणमाह—शुद्धमनुपहतम् । तदेव स्पष्टयति—अपापविद्धं धर्म्माधर्म्मवर्ज्जितम् । कायादिरहितोऽपि परमात्मा जगत्सर्ज्जनादि करोत्यचिन्त्यशक्तित्वादित्याह—कविरिति । ज्ञानी यं पर्य्येति स आत्मा शाश्वतीभ्यः समाभ्यः शाश्वतीषु समासु याथातथ्यतः यथार्थस्वरूपान् अर्थान् पदार्थान् व्यदधात् विदधाति । कीदृशः सः ? कविः सर्व्वज्ञः मनीषी मेधावी परिभूः सर्व्वस्य वशी स्वयम्भूः स्वतन्त्रः । ८॥

अनु०—अब श्रुति इस प्रकार आत्मज्ञानी के फल बतलाती है—जगत् में जो अधिकारी पूर्व प्रकार से आत्मा को देखता है वह शुभ्र अर्थात् शुद्ध विज्ञानानन्द स्वभाव वाला, भोग शरीर से रहित,

अच्छिद्र अर्थात् पूर्ण, स्थूल देह का शून्य के कारण शिरादि रहित, अनुपहत, अपापविद्ध अर्थात् धर्म्माधर्मवर्जित उस आत्मा को सम्यक् तया प्राप्त कर लेता है। वह परमात्मा शरीरादिरहित होने पर भी अचिन्त्यशक्ति के कारण जगत् सृष्ट्यादि करता है इस आशय को लेकर श्रुति कहती है—वह कवि है अर्थात् सर्वज्ञ है, मनीषी अर्थात् मेधावी है, परिभू अर्थात् सब का वशी है, स्वयम्भू अर्थात् स्वतन्त्र है। क्यों कि वह अनन्त काल तक पदार्थों को यथार्थ स्वरूप से धारण करता है ॥८॥

अन्धं तम: प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते य उ विद्यायां रता: ॥९॥

इदानीं पूर्व्वोक्तप्रकारेणानात्मविद: कर्म्मनिष्ठा: सन्त: केवलं कर्म्म कुर्व्वन्त एव ये जिजीविषन्ति तान् प्रति उच्यते—अन्धं तम इति। षड़नुष्टुभ:। अत्र विद्याविद्ययो: समुच्चिचीषया प्रत्येकं निन्दोच्यते। ये जना: अविद्यां विद्याया अन्या अविद्या कर्म्म तां केवलामुपासते कुर्व्वन्ति स्वर्गार्थानि कर्म्माणि केवलं तत्परा: सन्त: अनुतिष्ठन्ति ते प्राणिन: अन्धमदर्शनात्मकं तम: अज्ञानं प्रविशन्ति संसारपरम्परा-मनुभवन्तीत्यर्थ:। ततस्तस्मादन्धात्मकात् तमस: संसारात् भूय इव वहुतरमेव तमस्ते प्रविशन्ति ये उ ये पुन: विद्यायां केवलात्मज्ञाने एव रता: ॥९॥

अनु०—अब पूर्वोक्त प्रकार से जो आत्मविद् जन कर्मनिष्ठ होकर केवल कर्म करते हुए जीवन धारण करते हैं उन के प्रति अन्धं तम: इस मन्त्र से—श्रुति कहती है—यहाँ विद्या एवं अविद्या दोनों की निन्दा की गई है। जो व्यक्ति विद्या से अन्य अर्थात् अविद्या रूप कर्म की केवल उपासना करते हैं तात्पर्य्य—स्वर्गादि प्राप्ति के लिये तत्पर होकर उन का अनुष्ठान करते हैं वे प्राणी अन्ध तम: अर्थात्

अदर्शनात्मक अज्ञान में प्रवेश करते हैं अर्थात् संसारपरम्परा का अनुभव करते हैं । और जो केवल विद्या में अर्थात् आत्मज्ञान में निरत रहते हैं वे उस से अर्थात् अन्धतमः से प्रचुरतर अज्ञान में प्रवेश करते हैं ॥९॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

ज्ञान-कर्म्मणोः फलभेदमाह—अन्यदेवेति । विद्यया ज्ञानेनान्यदेव फलं आहुः । अविद्यया कर्म्मणा साध्यमन्यदेव फलमाहुः । यद्वा विद्ययात्मज्ञानेनान्यदेव फलममृतरूपमाहुर्ब्रह्मवादिनः अविद्यया कर्म्मणा वान्यदेव फलं पितृलोकादिरूपमाहुर्विद्वांसः । 'कर्म्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति" इत्यादिश्रुतेः । कथमेतदवगतमित्याह—इतीति । इत्येवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं धीराणां धीमतां वचनम् । ये आचार्य्या नोऽस्मभ्यं तत् कर्म्म च ज्ञानञ्च स्वरूपफलतो विचचक्षिरे व्याख्यातवन्तस्तेषामयमागमः पारम्पर्य्यागत इति भावः ॥१०॥

अनु०—अब ज्ञान-कर्म्म दोनों के फलभेद "अन्यदेव" इत्यादि मन्त्र से वतलाती है । विद्या से अर्थात् ज्ञान के द्वारा जो फल है वह अन्य है तथा अविद्या से अर्थात् कर्म के द्वारा जो साध्यफल है वह अन्य है । अथवा ब्रह्मवादीजन कहते हैं, बिद्या से अर्थात् आत्मज्ञान से जो फल है वह अमृत स्वरूप है । अविद्या का फल पितृलोकादिरूप है । श्रुति में कहा है—कर्म से पितृलोक विद्या से देवलोक की प्राप्ति होती है । देवलोक अर्थात् विष्णुलोक ही लोकों में श्रेष्ठ है इस लिये विद्या की प्रशंसा की जाती है । यदि कहो कि तुमने इसका कैसे अवगत किया तो सुनिये—हम सबने धीमताओं के वचनों का-श्रवण किया है, हमारे पूर्वाचार्य्य गण कर्म एवं ज्ञान का स्वरूप

तथा दोनों के फल का विचार कर गये हैं । अतः यह आगम परम्परागत है ऐसा जानना ॥१०॥

विद्यां चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११॥

समुच्चयमाह—विद्यामिति । विद्याञ्च ज्ञानञ्च अविद्याञ्च कर्म्म च यत् तदेतदुभयं सह एकेन पुरुषेणानुष्ठेयं यो वेद जानाति । यद्वा, विद्या आत्मज्ञानं अविद्या तत्साधनभूतं कर्म्म च द्वयं परस्परसमुच्चयार्थहेतुत्वेन यो वेद एकेनैव पुरुषेणानुष्ठेयमिति जानाति सः अविद्यया ईश्वरार्पणबुद्धया कृतानामग्निहोत्रादिकर्म्मणां मृत्युं मारकं अन्तःकरणमलं तीर्त्वा अन्तःशुद्धया कृतकृत्यो भूत्वा विद्ययात्मज्ञानेनामृतत्वं मोक्षमश्नुते प्राप्नोति ॥११॥

अनु०—अब विद्या (ज्ञान) तथा अविद्या (कर्म्म) दोनों एक ही साथ ज्ञातव्य हैं इस का उपदेश करती है । जो आत्मतत्त्व विद्या तथा अविद्या दोनों स्वरूप से एक ही साथ अनुष्ठित है ऐसा जानता है, अथवा—विद्या अर्थात् आत्मज्ञान, अविद्या अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्ति के साधनभूत कर्म्म इन दोनों को परस्पर सहार्थ से पुरुषार्थ हेतु रूप जानता है वह अविद्या के द्वारा अर्थात् ईश्वरार्पण बुद्धि के द्वारा क्रियमाण अग्निहोत्रादि कर्म्मों का मारक अन्तःकरण मलका पारकर अन्तःशुद्धि के द्वारा कृतकृत्य होकर विद्या के द्वारा अर्थात् आत्मज्ञान के द्वारा अमृत का अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है ॥११॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥१२॥

अधुना व्याकृताव्याकृतोपासनयोः समुच्चिचीषया प्रत्येकं निन्दो-

च्यते । ये असम्भूर्ति सम्भवनं सम्भूतिः कार्य्यस्योत्पत्तिरुत्पत्ति-विशिष्टा वा तस्या अन्या असम्भूतिः प्रकृतिः कारणं तां अव्याकृताख्यां अविद्याकामकर्म्मबीजभूतामदर्शनात्मिकां उपासते ते तदनुरूपमेवान्धं तमः प्रविशन्ति संसारमेव प्राप्नुवन्ति । ये तु सम्भूत्यां कार्य्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भादौ उ एव रतास्ते ततस्तस्मादपि भूयः बहुतरमिव एव तमः प्रविशन्ति ॥१२॥

अनु०—अब व्याकृत अव्याकृत की समुच्चय उपासना से प्रत्येक की निन्दा की गई है। वस्तु के विशेषलोप से उसकी असम्भूति होती है ऐसा कहा जाता है। लय एवं विनाश के द्वारा असम्भूति है । निर्विशेष अनुसन्धानकारी असम्भूति के उपासक होते हैं। अतः वे अन्धकार में प्रवेश करते हैं । और जो सम्भूति अर्थात् जड़सत्ता में रत हैं वे आत्मतत्त्व से अति दूर, घोर अन्धकार में रहते हैं । असम्भूति कार्य्य की उत्पत्तिविशिष्टा है अथवा कार्य की उत्पत्ति को असम्भूति कहते हैं। उस प्रकृति की अव्याकृत अर्थात् अविद्या कामकर्म बीजभूत अदर्शात्मिका की उपासना करते हैं वे तदनुरूप अन्धतमः में प्रवेश करते हैं अर्थात् संसार प्राप्त करते हैं । और जो सम्भूति में अर्थात् हिरण्यगर्भादि कार्य्य ब्रह्म में नितान्त रत हैं वे अन्धतम से भी बहुतर तमः में प्रवेश करते हैं ॥१२॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

अथोभयोरुपासनयोः समुच्चयकारणमवयवतः फलभेदमाह—अन्यदेवेति । सम्भवात् सम्भूतेः कार्य्यब्रह्मोपासनादन्यदेव पृथगेव अन्धतरतमः प्रवेशलक्षणं फलमाहुः कथयन्ति धीराः । तथा असम्भवादसम्भूतेरव्याकृतोपासनादन्यदेव फलमुक्तमन्धं तमः प्रविशन्तीत्याहुः । इत्येवंविधं धीराणां धीमतां वचः शुश्रुम वयं श्रुतवन्तः ।

ये धीराः नोऽस्माकं तत् पूर्व्वंसम्भूत्यसम्भूत्युपासनफलं विचचक्षिरे व्याख्यातवन्तः ॥१३॥

अनु०—अब (समुच्चय रूप से) फलभेद बतलाती है अन्यदेव इत्यादि मन्त्र से। पण्डितजन सम्भूति से अर्थात् कार्य्यब्रह्म उपासना से अन्धतर-तम प्रवेशलक्षण फल पृथक् है ऐसा कहते हैं। उस प्रकार असम्भूति अर्थात् अव्याकृत उपासना से पृथक् फल अन्धतम है ऐसा भी कहते हैं। हमने भी इस प्रकार बुद्धिवन्तों का वचन सुना है। उन बुद्धिवन्त जनों ने हमारे पहले सम्भूति-असम्भूतिउपासना के फल की व्याख्या की है॥१३॥

सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥१४॥

यत एवमतः समुच्चयः सम्भूत्यसम्भूत्युपासनयोर्युक्त एकैकपुरुषार्थत्वाच्चेत्याह—सम्भूतिञ्चेति। सम्भूतिं असम्भूतिं प्रकृतिञ्च अकारलोपश्छान्दसः। विनाशं विनश्वरं हिरण्यगर्भञ्च यः तत् वेद उभयं सह विनाशो धर्म्मो यस्य कार्य्यस्य तेन धर्म्मिणाभेदेनोच्यते विनाश इति। तेन विनाशेन हिरण्यगर्भोपासनेन मृत्युमनैश्वर्य्यादि तीर्त्वा अतीत्य असम्भूत्या अव्याकृतोपासनेनामृतं आपेक्षिकं प्रकृतिलयलक्षणमश्नुते समुच्चयोपासनायान्तु अणिमाद्यैश्वर्य्यलक्षणं शुभफलं भावीति वोध्यम् ॥१४॥

अनु०—जड़वस्तु के संग से जीव का बन्धन व मरण होता है। सम्भूति-असम्भूति उपासना के एकक पुरुषार्थत्व युक्त है। अतः श्रुति कहती है-जो सम्भूति-असम्भूति (विनाश) इन उभयात्मक रूप से आत्मतत्त्व को जानता है वह विनाश के द्वारा मृत्यु का (अनैश्वर्यादि) अतिक्रमण कर असम्भूति में अमृत का भोग करता है। विनाश का अर्थ हिरण्यगर्भादि विनश्वर तत्त्व है। अर्थात् अव्याकृत

उपासना के द्वारा आपेक्षिक प्रकृतिलय लक्षण अमृत का भोग करता है। परन्तु भविष्यत् में समुच्चय उपासना से अणिमादि ऐश्वर्य्य-लक्षण शुभफल प्राप्त होगा ऐसा जानना ॥१४॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्म्माय दृष्टये ॥१५॥

एवं प्राप्ताधिकारशिष्यं प्रति परमात्मस्वरूपं निरूप्य तत्साक्षात्कारो मोक्षसाधनमित्यतीतग्रन्थेनोक्तम् । स चेश्वरसाक्षात्कारो न श्रवणादिमात्रेण भवति नापि मोक्षः साक्षात्कारमात्रेण, किन्तु भगवदनुग्रहादेव । अतोऽनुष्ठितश्रवणमननादिकेनापि साक्षात्कारार्थं प्राप्तसाक्षात्कारेणापि च मोक्षार्थं यथा भगवत्प्रार्थनं कार्य्यं तत्प्रकार-प्रदर्शनार्था हिरण्मयेन पात्रेणेत्याद्युत्तरमन्त्राः । तत्रादित्यरूपोपासन-माह—हिरण्मयेन पात्रेणेति । अनुष्टुप् । हिरण्मयमिव हिरण्मयं ज्योतिर्म्मयं यत् पात्र पिवन्ति यत्र स्थिता रश्मयो यत्र स्थितानिति वा पात्रं सूर्य्यमण्डलं तेन तेजोमयेन मण्डलेन सत्यस्य आदित्य-मण्डलस्थस्य अविनाशिनः पुरुषोत्तमस्य श्रीभगवतः मुखं मुखमिति सर्व्वविग्रहोपलक्षणं लीलाविग्रहस्वरूपं अपिहितमाच्छादितं वर्त्तते यत् तन्मुखं हे पूषन् पुष्णातीति पूषा तत् सम्बोधनं हे भक्तपोषक परमात्मन् त्वम् अपावृणु अपावृतमनाच्छादितं कुरु । किमर्थं सत्य-धर्म्माय दृष्टये सत्यधर्म्मस्य मदादिभक्तजनस्य दर्शनाय साक्षात्कारा-येति ऋषिप्रार्थनम् ॥१५॥

अनु०—इस प्रकार अधिकारी शिष्य के प्रति परमात्म-स्वरूप का निरूपण कर उसका साक्षात्कार रूप मोक्षसाधन का उपदेश किया गया है । वह ईश्वर-साक्षात्कार श्रवणादि मात्र से नहीं होता है । अथवा साक्षात्कार-मात्र से मोक्ष नहीं है परन्तु भगवदनुग्रह से दोनों होते हैं । अतः अनुष्ठित श्रवण-मननादि के द्वारा भी साक्षा-

त्कार के लिये तथा प्राप्तसाक्षात्कार के द्वारा भी मोक्ष के लिये जिस प्रकार भगवत्प्रार्थना की जाती है उस प्रकार को दिखाने के लिये "हिरण्मयेन पात्रेण" इत्यादि उत्तरमन्त्रोंका उपदेश है.। श्रुती आदित्यरूप उपासना का उपदेश करती है "हिरण्यमयेन पात्रेण" इत्यादि मन्त्र से। हिरण्मय अर्थात् ज्योतिर्म्मय पात्र के द्वारा जहाँ ठहरकर रश्मियों का पान किया जाता हैं उस पात्र से अर्थात् तेजोमय सूर्य्यमण्डल से उस आदित्यमण्डल स्थित अविनाशी भगवान् पुरुषोत्तम का मुख ढका हुआ है। मुख शब्द से समस्त विग्रह उपलक्षित होता है। तात्पर्य्य—लीलाविग्रह स्वरूप भगवान् पुरुषोत्तम वहाँ आच्छादित होकर विराजमान हैं। हे पूषन् अर्थात् हे भक्तपोषक परमात्मन् तुम सत्यधर्म्म के लिये अर्थात् हम सब भक्तजन के दर्शन के लिये अपने को आच्छादित मत करो। यह ऋषि प्रार्थना है ॥१५॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत् ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

तदेव स्पष्टीकृत्य ऋषिर्याचते—पूषन्निति। उष्णिक्। हे पूषन्, हे एकर्षे, हे यम, हे सूर्य्य, हे प्राजापत्य, रश्मीन् प्रकाशयन् व्यूह त्वदीयं तेजः समूहं च स्वरूपं सङ्कोचयन् मदीयं ज्ञानं विस्तारयेत्यर्थः। यद्वा, हे पूष न्एकर्षे, यम, सूर्य्य, प्राजापत्य, रश्मीन् मच्चक्षुष उपघातकान् स्वान् रश्मीन् व्यूह विगमय तेज आत्मीयं ज्योतिः समूहं उपसंहर मद्दर्शनयोग्यं कुरु। तथा यत् ते तव रूपं कल्याणतमं अत्यन्तशोभनं परममङ्गलं वा तत् ते तव प्रसादादहं पश्यामि। केन प्रकारेण पश्यसीत्यत आह—य इति योऽसौ पुरुषः मण्डलान्तरस्थः असौ तदितरः प्रतीकस्थितश्च सोऽहमस्मि भवामि ॥१६॥

अनु०—अब ऋषि स्पष्ट रूप से "पुषन्नेकर्षे" इत्यादि मन्त्र से

याचना करते हैं । हे पुषन् ! हे एकर्षे ! हे यम ! हे सूर्य्य ! हे प्राजापत्य ! तुम अपनी रश्मियों को दूर कर अर्थात् उनकी निवृत्ति कर अपने कल्याणतम रूप का दर्शन कराओ । मैं उस मनोहर रूप का दर्शन करूँगा । क्यों कि मैं अधिकारी हूँ । अपने तेजो समूह रूप स्वरूप का संकोचन कर मेरे ज्ञान को विस्तारित करो । अथवा हमारे चक्षुओं की उपघातक अपनी रश्मियों को दूर कर. दर्शनयोग्य साम्य स्वरूप का आश्रय करो । तुम्हारे प्रसाद से उस कल्याणतम, अत्यन्त शोभनीय, परममङ्गलमय रूप का दर्शन प्राप्त करूँगा । यदि कहो कि किस प्रकार से देखोगे उस का उत्तर–मण्डलान्तस्थ जो यह पुरुष है और उससे इतर प्रतीकस्थित जो है वह मैं हूँ । अर्थात् तुमने ही चिन्मय–स्वरूप को प्रदान किया है । आप विभुचैतन्य, चिद्घन हैं, मैं अणुचैतन्य चित्कण हूँ । मैं आपकी कृपा से अपने चित्कण स्वरूप को ज्ञात कर रहा हूँ । अब आप के स्वरूप को जानने में समर्थवान् हो गया हूँ । यहाँ राजसेवक का राजाभिमान की भाँति अभेद कथन है ॥१६॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥१७॥

इदानीं मरिष्यतो मम वायुरध्यात्मपरिच्छेदं हित्वाधिदैवतात्मानमनिलं प्रविशत्विति प्रार्थयते—वायुरनिलमिति । गायत्री । हे परमात्मन्, मरिष्यतो मम वायुः सप्तदशात्मकलिङ्गशरीररूपः प्राणः अध्यात्मपरिच्छेदं हित्वाधिदैवरूपं सर्व्वात्मममृतं सूत्रात्मानमनिलं मुख्यप्राणं प्रतिपद्यतामिति वाक्यशेषः । ज्ञानकर्म्मसंस्कृतं लिङ्गमुत्क्रमयत्वित्यर्थः । अथानन्तरमिदं स्थूलशरीरमग्नौ हुतं सत् भस्मान्तं भस्मावसानं भूयात् । ओमिति यथोपासनमोम्प्रतीकात्मकत्वात् सत्यात्मकमग्न्याख्यं ब्रह्माभेदेनोच्यते । ॐ हे क्रतो, हे सङ्क-

ल्पात्मक मन: स्मर यन्मम स्मर्त्तव्यं तस्यायं कालः समुपस्थितोऽतः स्मर त्वं ब्रह्मचर्य्ये गार्हस्थ्ये च मया परिचरितः तत्स्मर । तथा कृतं यन्मया बाल्यप्रभृति अद्ययावदनुष्ठितं कर्म्म तच्च स्मर । क्रतो स्मर कृतं स्मरेति पुनर्वचनमादरार्थम् ॥१७॥

अनु०—"अब मुझ मरने वाले के लिये अध्यात्मपरिच्छेद का त्याग कर अधिदैवत आत्मा रूप अनिल में वायु प्रवेश करें" इस प्रकार ऋषि प्रार्थना करते हैं "वायुरनिल" इत्यादि मन्त्र से । हे परमात्मन् ! मरने वाला मेरे लिये वायु अर्थात् सप्तदशात्मक लिङ्ग-शरीररूप प्राण अध्यात्म परिच्छेद का त्याग कर अधिदैव-रूप, सर्वात्म अमृतमय मुख्य प्राण अनिल के प्रति प्राप्त करे यह वाक्य-शेष है । ज्ञान-कर्म से संस्कृत लिङ्ग का उत्क्रमण करे ऐसा अर्थ है । अनन्तर यह स्थूलशरीर अग्नि से हुत होकर भस्मावसान होवें । यहाँ ओं शब्द का प्रयोग यथार्थं उपासनार्थं है । वह प्रतीकात्म रूप के कारण सत्यात्मक अग्न्याख्य ब्रह्म के साथ अभेद रूप से प्रयोजित है । ओं हे क्रतो ! अर्थात् हे सङ्कल्पात्मक मन ! स्मरण करने का यह शुभ अवसर उपस्थित हैं अतः स्मरण करो । तुम ब्रह्मचर्य्याश्रम में हो अथवा गार्हस्थ्याश्रम में हो उसका स्मरण करो । बाल्यकाल से लेकर अब तक तुमने जो अनुष्ठान किया है उसका स्मरण करो । यहाँ "क्रतो स्मर कृतं स्मर" यह पुनर्वचन आदरार्थ है जानना ॥१७॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि
विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां
ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

इति वाजसनेयसंहितोपनिषत् सम्पूर्णा ।
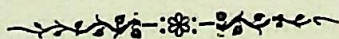
साक्षात्कारप्रार्थनानन्तरमग्निप्रतीकं भगवन्तं मोक्षं प्रार्थयते—

अग्ने नयेति । आग्नेयो त्रिष्टुप् । हे देव, क्रीड़ादिगुणविशिष्ट, हे अग्ने, अग्निप्रतीक, भगवन्. अस्मान् सुपथा शोभनेन मार्गेण देवयानलक्षणेन नय गमय । किमर्थम्—राये धनाय मुक्तिलक्षणाय । कीदृशस्त्वम्—विश्वानि सर्व्वाणि वयुनानि कर्म्माणि प्रज्ञानानि वा विद्वान् जानन् । किञ्च जुहुराणं कुटिलं प्रतिबन्धकं वञ्चनात्मकं एनः पापम् अस्मत् अस्मत्तः सकाशात् युयोधि पृथक् कुरु वियोजय नाशयेत्यर्थः : ततो विशुद्धाय ते तुभ्यं भूयिष्ठां वहुतरां नम उक्ति नमस्कारवचनं विधेम कुर्य्याम् । ईदृशाभीष्टसाधकस्य तव प्रतिकरणं नमस्कारपरम्परैव न त्वन्यत् प्रत्युपकरणमस्तीतिभावः ॥१८॥

इति श्रीबलदेवविद्याभूषणविरचितं वाजसनेय-
संहितोपनिषद्भाष्यम् ॥

साक्षात्कार-प्रार्थना के अनन्तर अग्निप्रतीक भगवान्—मोक्ष की प्रार्थना करते हैं—"अग्ने नय" इत्यादि मन्त्र से । हे देव ! अर्थात् क्रीड़ादिगुणवान् ! हे अग्ने ! अर्थात् अग्निप्रतीक भगवन् ! हम सबको देवयानलक्षण रूप शोभन-मार्ग से मुक्ति लक्षण धन के लिये लीजिये । आप समस्त विश्व व समस्त कर्म्मों को जानते हैं । कुटिल, प्रतिबन्धक, वंचनात्मक, अर्थात् युद्धपरायण इस पाप को संग्राम के द्वारा जीतकर विनाश कर दीजिये । तब हम सव विशुद्धस्वरूप आप को प्रचुरतर नमस्कार करेंगे । इस प्रकार अभीष्टसाधक आपको नमस्कारपरम्परा ही प्रतिकरण रूप है । अन्य कुछ प्रतिकरण नहीं है ऐसा भावार्थ है ॥१८॥
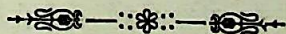
* परिशिष्ट *

इस उपनिषद् के स्वायम्भुव मनु ऋषि हैं, उन के दौहित्र आकूति–रुचि प्रजापति के कुमार यज्ञ नामक विष्णु देवता हैं। स्वायम्भुव मनु ने अपने दौहित्र यज्ञ भगवान् को भगवान् रूप से जानकर उनकी प्रीति के लिये तथा अपनी मुक्ति के लिये "ईशावास्यादि" मन्त्रों से स्तुति की । ऐसा देखकर राक्षस गण विष्णु-स्तुति में असहमान होकर स्वायम्भुव मनु को खाने के लिये दौड़े । उस समय यज्ञनामक वे विष्णु भगवान् स्वायम्भुवमनु कृत–वैदिक-स्तुति का श्रवण कर प्रसन्न हुए, एवं रुद्रादि वरों से अवध्य उन राक्षसों का वध कर उनके भय से स्वायम्भुवमनु का मोचन करने लगे इस प्रकार कथा भागवत के अष्टम में मौजूद है। अतः भागवत के अष्टमादि में स्वायम्भुवमनु कृत यज्ञस्तुति को ईशावास्योपनिषद् का साररूप जानना चाहिये ।

ईशावास्य का सारतत्व यह है कि—इस जगत् में परिदृश्यमान् यावतीय वस्तु भगवत्सेवोपभोग का उपकरण रूप है, अतः उसमें अपनी भोगबुद्धि नहीं करनी चाहिये क्यों कि उसमें लोभ करने से अपराध होता है। केवल दासकी भाँति भगवत्सेवा के लिये जीवन धारण कर उन के भोगावशेष का ग्रहण करना कर्त्तव्य है । यदि मानव इस प्रकार शतवर्ष पर्य्यन्त अर्थात् अपने परमायु तक जीवन धारण करता है तो वह कर्म करता हुआ भी उस कर्म्मचक्कर में नहीं आता है। जो अन्यथा करता है अर्थात् भगवान् के साथ सम्बन्ध स्थापन न कर जगत् का भोग करता है वह आत्मघाती माना जाता है तथा मरने के बाद आसुरियोनि प्राप्त करता है । परमात्मा निश्चल हैं वे स्वरूप गत इच्छा तथा क्रियाशक्ति के द्वारा क्रियावान होते हैं। जीवात्मा निश्चल होने पर भी उसके द्वारा स्वीकृत माया-शक्ति की वृत्ति रूप से वायु अर्थात् प्राणरूप वायु के द्वारा किया-शील होता है । भगवान् में सचलत्व, अचलत्व, दूरत्व, निकटत्व,

अन्तर्गतत्व-वहिर्गतत्वादिक विरुद्धधर्म्म युगपत् सामञ्जस्य लाभ करते हैं क्यों कि उनमें अविचिन्त्यशक्तिमौजूद है। जो परमात्मा में समस्तभूत एवं सर्वभूत में परमात्मा का दर्शन करता है वह प्रीति सम्पत्ति का लाभ करता है। उस को किसी भी प्रकार शोक व मोह नहीं रहता है। भगवान् अपनी चिच्छक्ति के द्वारा समस्त कार्य्य का समाधान करते हैं उनमें देह-देही भेद नहीं हैं। उन का शरीर अप्राकृत तथा नित्य है। जो अविद्या रूप कर्मकाण्ड का आश्रय करता है उसको अन्धकारमय लोक की प्राप्ति होती है और जो विद्या रूप निर्भेदज्ञान में रत है वह उससे अधिकतर अन्धकारमय स्थान में प्रवेश करता है। परमात्मा कर्मकाण्ड व ज्ञानकाण्ड से प्राप्त नहीं होते हैं मायान्तर्गत विद्या एवं अविद्या की विकृति का नाश होने पर चिच्छक्तिगत विशेष धर्म का अनुभव होता है। निर्विशेष अनुसन्धान कारी असम्भूति के उपासक हैं वे अन्धकार में प्रवेश करते हैं। और जो सम्भूति अर्थात् जड़-सत्ता में निरत हैं वे घोर अन्धकार में रहते हैं। आत्मतत्त्व निर्विशेषचिन्तन तथा जड़ रूप सविशेषचिन्तन दोनों से पृथक् है। जड़संग से मुक्त होकर चित्तत्व में सम्भूतिलाभ करने पर अमृत प्राप्त होता है। भगवान् की कल्याणतम द्विभुज मुरलीधर श्यामसुन्दर मूर्त्ति हिरण्मयज्योति के द्वारा आवृत होकर विराजमान है। उस ज्योति का भेद करने पर सर्वकल्याणमय उन का दर्शनलाभ होता है। उस समय जीव अपने अणु सच्चिदानन्द स्वरूप को अवगत कर परिपूर्ण सच्चिदानन्द भगवान् की सेवा में रत हो जाता है। ज्ञानमिश्रा भक्ति के अधिकारी जड़मुक्ति की प्रार्थना करते हैं एवं अग्नि अन्तर्य्यामी विष्णु का इस प्रकार स्तव करते हैं कि—हम सब को सुपथ से परमार्थ में ले जाईये, हमारे अविद्या कापट्य रूप पाप का विनाश कीजिये, आप को हम नमस्कार करते हैं॥

अस्तु श्रीपादवलदेव ने ईशावास्यादि से लेकर कठकैबल्योपनिषद् पर्य्यन्त बारह उपनिषदों का भाष्य किया है परन्तु अभी वे सव अप्राप्य हैं, कहीं छिपे भी हों उनका पता नहीं मिल रहा है। हम उनके अनुसन्धान में हैं। सम्प्रति केवल "ईशावास्य" का बलदेव कृतभाष्य के साथ देवाक्षर में प्रकाशन हुआ है, आगे श्रुतिदेवी की अनुकम्पा हीं सम्वल है। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" यह श्रुतिवाक्य ही हमारा आधार है। वहुत अच्छा हुआ कि—श्रीयुक्त केदारनाथभक्तिविनोद-महोदय ने इस भाष्य का वंगानुवाद के साथ बंगाक्षर में सम्पादन कर प्रकाशक्षेत्र में लाया जिससे वैष्णवसमाज का महान उपकार हुआ। वहुदिनों से देबाक्षर में इसका प्रकाशन के लिये प्रबल ईच्छा थी कि गुरु-गौराङ्गदेव की कृपा से वह आज पूर्त्ति हुइ।

प्रस्तानत्रयी में ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, गाता तथा विष्णुसहस्रनाम का महान स्थान है। इसीलिये प्रायतः समस्त सम्प्रदाय के आचार्यों ने उन सव पर भाष्य व विस्तृतव्याख्या की। श्रीचेतन्यसम्प्रदाय में ब्रह्मसूत्र के साथ श्रीमद्भागवतका विशेष महत्वहै। यहाँ तक कि श्री-मन्महाप्रभु ने श्रीमद्भागवत को अप्राकृत भाष्य रूप माना है। श्री-जीवगोस्वामि आदि ने शास्त्र युक्ति-प्रमाणों से उसका पुष्ट किया। वलदेवविद्याभूषण समय तक ऐसा ही रहा अर्थात् श्रीमद्भागवत रहते किसी अन्य भाष्य का आवश्यक नहीं पड़ा। परन्तु सम्प्रदाय-मर्य्यादा रखने के लिये बलदेवजी को इन सव पर भाष्य करना हुआ। अन्य-सम्प्रदायों के साथ विच्छेद न हो जावे इसी लिये उन्होंने उन सवका भाष्य किया। सम्प्रदाय-अनुरोध से यह सब होना उचित भी था। गौड़ीय-सम्प्रदाय की धारावाहिक परम्परा मध्वसम्प्रदाय से है। मध्वाचार्य्यचरण ने भी उन सब पर भाष्य किया। बलदेवजी ने उसका अनुसरण कर श्रीचैतन्यसम्प्रदायकी महती उपकृति की तथा सम्प्रदायगौरव की बृद्धि की। (कृष्णदासबावा)